सामयिक प्रकाशन

समाज और इतिहास

नवीन शृंखला

11

प्रकृति और अस्मिता : 15वीं से 18वीं शताब्दी राजस्थान के विशेष संदर्भ में एक ऐतिहासिक अध्ययन

मयंक कुमार

संबद्ध यू.जी.सी. फ़ेलो

नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

2014

सामयिक प्रकाशन, नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

© मयंक कुमार, 2014
सर्वाधिकार सुरक्षित। लेखक की लिखित अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भी अंश का दोबारा प्रयोग, पुनरोत्पादन किसी भी रुप में नहीं किया जा सकता। इसमें व्यक्त विचार, अर्थनिर्धारण तथा निष्कर्ष पूर्णतः लेखक के हैं और किसी भी तरह, पूर्णरुपेण अथवा अंशतः, नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय के विचारों को नहीं दर्शाते।

प्रकाशक

नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
तीन मूर्ति भवन
नई दिल्ली–110011
ई.मेल : ddnehrumemorial@gmail.com

आईएसबीएन : 978-93-83650-51-4

मूल्य रुपये 100/- ; यूएस $ 10

पृष्ठ सज्जा और मुद्रण : ए.डी. प्रिंट स्टूडिओ, 1749 बी/6, गोविन्द पुरी, एक्सटेंशन कालकाजी, नई दिल्ली–110019. ई.मेल : studio.adprint@gmail.com

सामयिक प्रकाशन, नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

प्रकृति और अस्मिता : 15वीं से 18वीं शताब्दी राजस्थान के विशेष संदर्भ में एक ऐतिहासिक अध्ययन

मयंक कुमार

किसी भी सामाजिक परिदृश्य में अस्मिता की अवधारणा की व्याख्या एक जटिल प्रक्रिया है। ये बात गौरतलब है कि यह मुख्यतः मानव केन्द्रित सामाजिक पारिस्थितकीय संबंधो से निर्धारित होती हुई अवधारणा है। अस्मिता की अवधारणाओं की व्याख्याओं में आमतौर पर अजैविक प्राकृतिक संदर्भ की अवहेलना होती रही है क्योंकि इन व्याख्याओं के केन्द्र में आमतौर पर मानवीय सरोकारों की प्रधानता रही है। सामाजिक, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय आदि स्तरों पर नजर आती अस्मिताओं के विकास और सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया में पारिस्थितकीय कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका को आमतौर पर समुचित स्थान नहीं मिला है। अस्मिता की उत्पत्ति के अध्ययनों में आमतौर पर सामुहिक भाषा और साहित्य, सांझी संस्कृति, मुख्य धार्मिक परंपरा आदि के साथ–साथ राजनैतिक एकीकरण आदि कारकों पर ही ज्यादा जोर दिया गया है। उपरोक्त किसी एक अथवा कई कारकों के मिले–जुले परिणाम के रुप मे अस्मिता की व्याख्या होती रही है, जिसमें किसी क्षेत्र विशेष में स्थित समुदाय के प्राकृतिक संदर्भ के महत्व को समुचित स्थान नहीं मिल पाया है। अगर सारे मौकों पर नही तब भी ज्यादातर मौकों पर किसी भी समुदाय द्वारा एक क्षेत्र विशेष को अपना निवास स्थान चुनने में प्राकृतिक संदर्भों ने अगर निर्णायात्मक भूमिका नहीं निभाई है तब भी यह कहना गलत नहीं होगा कि पारिस्थितकी ने काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा

कि कोई भी क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों से कितना भी परिपूर्ण क्यों न हो तथापि वहां पर सामाजिक जीवन की निरंतरता तभी संभव हो सकी है जब मानव समाज स्थानीय पारिस्थितकीय तत्वों से निरंतर संवाद बनाये रख पाया है। इस संवाद की प्रक्रिया से आमतौर पर समाज में स्थानीय प्राकृतिक तत्वों के प्रति एक संवेदना पूर्ण संबंध बन जाता है। ज्यादातर मौकों पर यह संवेदनात्मक संबंध अस्मिता के निर्धारण में गहरी भूमिका निभाते हैं जो कि आमतौर पर कहावतों, लोक साहित्य और साहित्य आदि में परिलक्षित होते हैं।

भौगोलिक क्षेत्रीय इकाइयों पर आधारित अस्मिता के निर्माण की व्याख्या एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक सरोकारों की काफी गहरी भूमिका होती है। 15वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य आमतौर पर भारत में और खासतौर से राजस्थान में प्राकृतिक लक्षणों पर आधारित अस्मिताओं का क्षेत्रीयकरण लाजमी है। एक अखिल भारतीय अथवा अखिल राजस्थानी अस्मिता का निर्माण नितांत प्राकृतिक लक्षणों पर प्रायः संभव नहीं था। क्षेत्रीय अनूठापन, विशिष्टता और विभिन्नता ने एक स्तर पर अस्मिता के निर्माण में भूमिका तो निभाई वहीं साथ–ही–साथ स्थानीय स्तर पर कई अस्मिताओं को भी जन्म दिया। मानव समाज में व्याप्त स्तरीकरण ने भी प्रकृति आधारित अस्मिता के एकल स्वरुप की संभावनाओं को नकारते हुए एकाधिक स्वरुप की संभावनाओं को बल दिया। यहां यह बात भी गौरतलब है कि यह अस्मिताऐं समय के साथ–साथ बदलती रही हैं और समाज में आने वाले आर्थिक–राजनैतिक–सामाजिक बदलावों से प्रभावित होती रही है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग में आने वाले बदलावों ने भी इन अस्मिताओं के पुनः निर्धारण को निरंतर प्रभावित किया है। यह कह देना भी जरुरी है कि आमतौर पर प्राकृतिक अस्मिताओं की वास्तविक प्राकृतिक लक्षणों से समरुपता जरूरी नहीं है। बेनेडिक्ट एंडरसन ने सही ही कहा है कि ''गांव–जहां पर व्यक्तिगत मुलाकातों के आधार पर अस्मिता का निर्धारण होता है, को छोडकर बाकी सभी अस्मिताएं काल्पनिक है''।[1]

[1] बेनेडिक्ट एंडरसन, *इमैजिन्ड कम्यूनिटिज*, वर्सो, लंदन, न्यूयॉर्क (संशोधित संस्करण), 2006, पृ. 6.

राजस्थान में अस्मिता के पुर्ननिर्धारण में 15वीं से 18वीं शताब्दी की गहरी भूमिका रही है। अतः इसका विश्लेषण जरुरी है। भाषाई तौर पर यह गौरतलब है कि ''15वीं शताब्दी के दौरान ...आधुनिक राजस्थानी का उद्‌भव देखने को मिलता है।''[2] संभवतः इसी काल में पहली बार राजस्थान की एक क्षेत्र के रुप में कल्पना भी की गई।[3] साहित्य में अस्मिता की कल्पना तत्कालीन समाज के विभिन्न सरोकारों से प्रभावित होती रही है। हालांकि ''आज तक पर्यावरण पर आधारित लेखन ने अस्मिता और प्राकृतिक लक्षणों के गहरे संबंधों की उपयोगिता पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया।''[4] यह शोध पत्र क्षेत्रीय अस्मिता के निर्धारण में प्राकृतिक लक्षणों और उपादानों की भूमिका का 15वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य राजस्थान के विशेष संदर्भ में परीक्षण करने का एक प्रयास है। यह शोध पत्र राजनैतिक सत्ताओं द्वारा प्राकृतिक अस्मिताओं के आधार पर अपनी वैधता स्थापित करने की प्रक्रिया का भी परीक्षण करता है।[5]

---

[2] हीरालाल माहेश्वरी, *हिस्ट्री ऑफ राजस्थानी लिटरेचर*, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1980, पृ. 6.

[3] ये तो जगजाहिर है कि राजस्थानी नया नाम है। पुराना और ज्यादा प्रचलित नाम मरु भाषा (गोपाल लाहिरी ने इसका इस्तेमाल *रस विलास* 1587 में किया था)।

[4] सूसान क्लैटोन एवं ओपोटोव सूसान, 'इंटरोडक्सन', (संपा.), क्लैटोन सूसान एवं ओपोटोव सूसान, *आइंटिटी ऐण्ड दि नेचुरल इंवॉयरनमेंट : दि साइकोलोजिकल सिगनीफिकेन्स ऑफ नेचर*, दि एम. आई. टी. प्रेस, कैंब्रिज, मैसेचुसेट और लंदन, 2003, पृ. 3 कृपया इसे भी देखें गुनैल सेडरलोफ, एवं के. शिवरामाकृष्णन (संपा.) *इकॉलोजिकल नैशनलिज़्मः नेचर लाइवलिहूड्स ऐण्ड आइडेंटेटीस इन साउथ एशिया*, परमानेंट ब्लैक एवं यूनिवर्सिटी ऑफ वाशिंगटन प्रेस, नई दिल्ली एवं सियाटेल, 2006; के. शिवरामाकृष्णन, 'थिन नेशनलिज़्म : नेचर ऐण्ड पब्लिक इंटेलिक्यूलिज़्म इन इंडिया', *कॉन्ट्रीब्यूशनस टू इंडियन सोशियोलजि*, अंक–45, नं–1, 2011, पृ. 85–111; ऐन फेलधौस, *रीजन, पीलग्रेमेज ऐण्ड ज्योग्रोफिकल इमेजिनेशन इन इंडिया*, पॉलग्रेव मेकमिलन, न्यूयॉर्क, 2003; फिलीप आरनोल्ड एंव ऐन गोल्ड (संपा.), *सैकरेड लैंडस्केप ऐण्ड कलचरल पॉलिटिक्स : पलांटिंग ऐ ट्री*, ऐशगेट, अल्डरशोट, 2001; मोनिका जनोवोस्की एवं टिम इनगोल्ड (संपा.), *इमेजीनिंग लैंडस्केपस : पास्ट, प्रजेन्ट ऐण्ड फ्यूचर*, ऐशगेट, अल्डरशोट, 2012।

[5] इतिहासकार जैसे रोमिला थापर, *फ्रॉम लीनियेज टू स्टेटः सोशल फॉरमेशन इन दि मिड–फर्स्ट मिलेनियम बी. सी. इन दि गंगा वैली*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, 1984; हर्मन कुल्के,*ए हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1986; और आर. एस. शर्मा, *ऑरिजिन्स ऑफ स्टेट इन इंडिया*, यूनिवर्सिटी ऑफ बम्बई, बम्बई, 1989, आदि ने भारत में राज्य के उद्‌भव एवं विकास की व्याख्या क्षेत्रियता के आधार पर की है। तत्कालीन समाज में जहां पर राजनैतिक व्यवस्थाओं के वर्णन के साथ वहां के भौगोलिक और सामाजिक

साथ ही साथ यह भी दर्शाने की कोशिश करता है कि क्षेत्रीय अस्मिताओं के विकास में राजनैतिक परिसीमन से सामंजस्य के साथ अगर भाषाई एकरुपता भी मिल जाती है तो क्षेत्रीयता और मुखर हो जाती है।[6] प्रस्तुत शोधपत्र यह भी दर्शाने की कोशिश करता है कि अस्मिताएं निरंतर परिवर्तनशील रहती हैं।

स्रोत

इस तरह के इतिहास लेखन के लिए हमे कई किस्म के स्रोतों का अध्ययन करना होता है। इन अध्ययनों में हमें सामाजिक संवेदनाओं को समझने पर ज्यादा जोर देना चाहिए। संवेदनाओं के चित्रण में क्षेत्रीय भाषाओं में उपलब्ध साहित्य हमारी काफी सहायता करता है। संवेदनाओं का अध्ययन करते वक्त हमें काफी सचेत भी रहना चाहिए ताकि हम तत्कालीन समाज के सरोकारों को, संवेदनाओं को उसकी राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, पारिस्थितकीय पृष्ठभूमि के संदर्भ में ही विवेचित करें। ज्यादातर दस्तावेजों के मूल में लेखक की कुछ चिंताएं और सरोकार छिपे होते है, जो कि दस्तावेज के स्वरुप को प्रभावित करते हैं। अतः ये जरुरी है कि इन चिंताओं और सरोकारों को नजरअंदाज न किया जाए।[7] ज्यादातर स्रोतों में चाहे साहित्यिक हों अथवा प्रशासनिक–आधिकारिक, प्राकृतिक पृष्ठभूमि का समावेश होता ही है। आमतौर पर यह दोनों प्रकार के स्रोत एक दूसरे के पूरक होते हैं। ज्यादातर स्रोतों में आमतौर पर क्षेत्र विशेष के एक खास रुप का ही चित्रण होता है। प्रशासनिक–अधिकारिक स्रोतों में प्रकृति का उसके संसाधनों, उत्पादन क्षमता, इत्यादि के रुप में ज्यादा चित्रण देखने को मिलता है। इसके मद्देनजर इन स्रोतों में भूमि की प्रकृति, फसलों का स्वरुप, खनिज की उपलब्धता, आदि मुद्दों का व्यापक चित्रण देखने को मिलता है। वहीं अगर साहित्यिक स्रोतों की बात करें तो उनमें प्रकृति से लगाव, उसके

परिस्थितियों का भी चित्रण भी मिलता है। अबुल फज़ल, *आइने–ऐ–अकबरी*, खण्ड–I, अनुवादक एच. ब्लोकमेन, ओरिएंटल बुक्स रिप्रिंट कॉरपॉरेशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 1977; मुंहता नैणसी, *मारवाड रा परगना री विगत*, तीन खण्ड (संपा.), नारायण सिंह भाटी, राजस्थान प्राच्यविद्या शोध संस्थान, जोधपुर, 1968–1974, इत्यादि।

[6] एंडरसन, *इमैजिन्ड कम्यूनिटिज.*

[7] सुमित गुहा, *दि पॉलिटिक्स ऑफ आइडेंटिटी ऐण्ड इन्यूमेरेसन इन इंडिया* सी. 1600–1900', *कॅमपेरिटिव स्टडीज़ इन सोसाइटी ऐण्ड हिस्ट्री*, अंक–45, नं. 1, जनवरी, 2013, पृ. 148–167।

प्रति संवेदना, आदि सरोकार प्रमुखता पाते हैं। ऐसा माना जाता रहा है कि इस काल के पारंपरिक फ़ारसी स्रोतों में कुलीन वर्ग के ही सरोकारों का चित्रण हुआ है, अतः उनमें पर्यावरणीय सरोकार स्थान नहीं पाते हैं। हालांकि गौर से पढ़ने पर यह बात समझ में आती है कि पर्यावरणीय चेतना की छिपी अभिव्यक्ति इन स्रोतों में भी देखने को मिलती है। कुछ ऐसी ही बात क्षेत्रीय स्तर पर उपलब्ध प्रशासनिक–आधिकारिक स्रोतों पर भी लागू होती है।

इसके विपरीत अगर हम क्षेत्रीय भाषाओं में उपलब्ध साहित्य पर नजर डालें तो उसमें प्रकृति, प्राकृतिक उपादानों के प्रति सामाजिक संवेदनाओं का चित्रण बहुलता में देखने को मिलता है। इन साहित्यों में चित्रित प्रकृति के रुप तत्कालिक पर्यावरणीय कारकों की कार्यशीलता पर आधारित होते हैं। क्षेत्रीय साहित्यिक स्रोतों की अगर बात करें तो राजस्थानी साहित्य काफी पहले से ही मिलने लगता है और 15वीं शताब्दी के बाद तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने लगता है।[8] राजस्थानी साहित्य निम्नलिखित पांच मुख्य धाराओं में विभाजित किया जा सकता है: जैन, चारण, आख्यान, संत तथा लौकिक।[9] यहां पर हम इन सब के स्वरुप की विस्तृत चर्चा न करते हुए हम यह बात कहना चाहेंगे कि मानव के पर्यावरणीय सरोकारों के अनूठे उदाहरण इन साहित्यों में देखने को मिलते हैं। इनमें प्रयुक्त रुपकों और कहावतों में पेड़–पौधों, जीव–जन्तुओं और प्राकृतिक उपादानों की प्रकृति से उदाहरण लिए जाते है। यह इस बात का भी घोतक है कि तत्कालीन मानव समाज ने प्रकृति को काफी गहराई से समझा था। अतः हम यह कह सकते हैं कि प्रकृति संबंधी संवेदनाओं और सरोकारों का अध्ययन इतिहास के अनछुए पहलुओं को उजागर करने में हमारी सहायता करता है।

राजस्थान के साहित्यिक स्रोतों में चारणों के लेखन का एक खास स्थान है।[10] चारण साहित्य में विभिन्न विषयों पर टिप्पणी देखने को

[8] चन्द्र प्रकाश देवल, 'मेडिवल राजस्थान लिटरेचर', (संपा.), के. अइप्पा पाणिकर (मुख्य संपादक), *मेडिवल इंडियन लिटरेचर : एन एंथोलोजी*, खण्ड–I, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2000, पृ. 453–71।

[9] माहेश्वरी, *हिस्ट्री ऑफ राजस्थानी लिटरेचर*, पृ. 9.

[10] श्याम सिंह रतनावत, और कृष्णगोपाल शर्मा, (संपा.), *चारण साहित्य परंपरा : प्रो. वी. स्वरुप भटनागर अभिनंदन ग्रंथ*, राजस्थान अध्ययन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 2001।

मिलती है।[11] चारण साहित्य में सबसे मशहूर विधा ख्यात लेखन की रही है। ख्यात शब्द में ही उसका अर्थ निहित है। आमतौर पर राजाओं अथवा आश्रयदाताओं के गुणगान का चित्रण ख्यात में देखने को मिलता है। इसके अध्ययन से हमें तत्कालीन शासक वर्ग के सरोकारों, अवधारणाओं, रवैयों, आदि के बारे में जानकारी मिलती है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वैसे तो यह साहित्य उत्कृष्ट कोटि का है परंतु इसके केन्द्र में राजनैतिक–प्रशासनिक सरोकार ही रहे हैं। वहीं पर साहित्यिक स्रोतों में प्राकृतिक उपादानों का चित्रण उसके प्रति लगाव को भी दर्शाता है जिसमें प्रकृति को सजीव मानते हुए उसके क्रियाकलापों के प्रति एक सहानुभूतिपूर्ण रवैया नजर आता है। साथ ही साथ प्रकृति के माध्यम से वहां का समाज अपनी अस्मिता बनाता भी नजर आता है।

प्राकृतिक उपादानों का चित्रण समय के साथ बदलता रहता है, आमतौर पर ऐसा उसमें उपलब्ध उत्पादन की नयी संभावनाओं के प्रभाव से होता है। स्रोतों के अपने सरोकारों या उद्देश्यों के मद्देनजर भी उनमें प्रकृति का चित्रण बदलता रहता है, जैसे कि मुंहता नैणसी का लेखन, 'अड़सटठा', 'तवारिख–जैसलमेर', 'वीर–विनोद', 'जैसलमेर री ख्यात', आदि स्रोतों में राजनैतिक–प्रशासनिक सरोकारों के चित्रण की बहुलता है। इस किस्म के साहित्य में कृषि उत्पादन आदि सरोकारों का चित्रण देखने को मिलता है। वहीं अगर ''टोड'' के यात्रा–वृतांत जैसे स्रोतों पर नजर डालें तो हम पाते हैं कि इनमें राजस्थान के रुमानी चित्रण की बहुलता हैं।[12] अंततः हम यह पाते हैं कि अलग–अलग स्रोतों में पर्यावरण के चित्रण का स्वरुप बदलता रहता है और आगे के पृष्ठों में इन्ही के माध्यम से अस्मिता के उद्भव एवं विकास में पर्यावरण की भूमिका का विवेचन करेंगे।

---

[11] आर. पी. व्यास, 'बारडिक लिटरेचर–इट्स ऑरिजिनस क्लासिफिकेशनस ऐज ए सोर्स ऑफ हिस्ट्री', श्याम सिंह रतनावत और कृष्णगोपाल शर्मा, (संपा.), *चारण साहित्य परंपरा : प्रो. वी. स्वरुप भटनागर अभिनंदन ग्रंथ*, राजस्थान अध्ययन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 2001, पृ. 1–6।

[12] रजत कांत रे, 'कर्नल जेम्स टोड, मुंहता नैणसी ऐण्ड दि राजपूत', *इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू* अंक–25, नं. 2, जून 1999, पृ. 100–11।

पर्यावरणीय संवेदनाएं

पर्यावरणीय नजरिए से राजस्थान काफी विविधता पूर्ण क्षेत्र है। भौगोलिक चरित्र के अनुसार राजस्थान को मोटे तौर पर दो हिस्सो मे बांटा जाता हैं: पहला अरावली पर्वत श्रृंखला के पश्चिम, उत्तर पश्चिम का क्षेत्र जबकि दूसरा दक्षिण पूर्वी क्षेत्र। ढूढ़ाड़ (आमेर–शेखावटी) क्षेत्र में दोनों ही क्षेत्रों के तत्व देखने को मिलते है। आगे बढ़ने से पहले यह बात साफ कर देनी जरुरी है कि मोटे तौर पर विभाजित यह क्षेत्र अपने आप में एक सुव्याख्यायित एकीकृत क्षेत्र नहीं हैं बल्कि अपने में व्यापक पर्यावरणीय विविधताएं समेटे हुए हैं। आमतौर पर यह पर्यावरणीय विविधताएं एक अस्मिता को दर्शाती नजर आती हैं। अतः इस शोध पत्र में सहुलियत के लिए मै इन्हीं पारंपरिक भाषाई–क्षेत्रीय वर्गीकरण को आधार बनाकर अपनी बात रख रहा हूं। ऐसा करने से प्राकृतिक क्षेत्र और भाषा पर आधारित पहचान के मध्य पारस्परिक संबंधो से विकसित होती हुई क्षेत्रीय अस्मिताओं की व्याख्या भी ज्यादा आसानी से कर सकेंगे।

राजस्थान में अरावली के उत्तर पश्चिम में स्थित शुष्क क्षेत्र जिसका विस्तार पश्चिम में सिंध तक और उत्तर में दक्षिण पंजाब तक है, मूलतः रेतीला,[13] अनउपजाऊ और पानी की कमी वाला है। जैसे–जैसे हम उत्तर या पूरब की तरफ बढ़ते है पानी की उपलब्धता में सुधार आने लगता है। इस शुष्क क्षेत्र का विस्तार समकालीन जोधपुर की सीमा पर स्थित लूनी नदी से उत्तर पूर्व में बीकानेर तक होता है और इसे निम्न–रेगिस्तान भी कहा जाता है। आमतौर पर यह शुष्क स्वरुप पूरे रेगिस्तान में नजर आता है। इस पूरे क्षेत्र को थाट के नाम से भी जाना जाता है[14] जिसमें रेत के टीले एक समानान्तर पंक्ति में खड़े नजर आते है। इन समानान्तर टीलों के बीच में स्थित क्षेत्र समुद्री तट के जैसा दिखता है। रेतीले टीलों की यह श्रृंखला कभी–कभी दो मील लंबी और पचास से सौ

[13] अबुल फज़ल, *आइने–ऐ–अकबरी*, खण्ड–I, पृ. 273; जीन बपतेस्ते टवेरनियर, *ट्रेवल्स इन इंडिया*, अनुवादक वी. बॉल, ओरिएण्टल बुक्स रिप्रिंट कॉरपोरेशन, नई दिल्ली, 1977, पृ. 63.
[14] 'थार' शब्द शायद थल से आया है जिसका मतलब रेगिस्तान होता है। नैणसी, *मारवाड रा परगना री विगत*, तृतीय खण्ड, पृ. 132, सीता राम लालस, *राजस्थानी हिंदी शब्द कोष*, खण्ड–I, राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर, 1986, पृ. 617.

फीट तक चौड़ी होती है।[15] दूर से देखने पर यह एक पहाड़ी क्षेत्र जैसा लगता है जिनके शीर्ष हवा के प्रभाव से वृत्ताकार प्रतीत होते हैं। अधिकांशतः इन टीलों पर छिट–पुट झाड़ियों और थोड़ी घास को छोड़कर कुछ नहीं उगता है। बारिश के मौसम में झाड़ियों और घास के क्षेत्र में थोड़ा विस्तार हो जाता है।

साहित्य में इस क्षेत्र के निम्नलिखित विवरण पर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा।

थली वर्णन

थली सिरदार वर्णन
दसे दिस चावउ भोलो देस।
उंफडा जल पीवइ बुरि असेस।।
कहइ जे बोल मिलई सुखकार।
सहु सिरि देस थली सिरदार।।
जिहां नहीं कूड़ कलेस बजार।
गिणहीं नहिं किणसूँ द्रोह लिगार।।
धन थोड़े धर करइ साधर।
सहु सिरि देस थली सिरदार।।
धरा जिण बालक धर्म सु धीर।
आया जिण काज अखंड अभीर।।
नियाहण टेक जिहां नर नार।
सहु सिरि देस थली सिरदार।।
करइ चउकस जे होवै काम।
सदा परदेस बीह जू ठाम।।
करइ जिहाँ लोग सदा उपगार।
सहु सिरि देस थली सिरदार।।
जिहां नहीं रोग संभावइ जोर।
भुजगल महा बलवंत अभोर।।
डोलाला डाकी नइ डोकार।
सहूसिरि देस थली सिरदार।।

[15] डी. शर्मा, *राजस्थान थ्रू दि ऐजेज,* राजस्थान स्टेट आरकाइवस, बीकानेर, 1966, पृ. 45.

जिसा थल जोर अजंग अजेय।
भला जिहां लोक गंभीर अभेय।।
नर नारी होइ रतन्न न बार।
सहू सिरि देस थली सिरदार।।
जिहां भय होइ न दंड न जोर।
चिहुं दिसि चावउ कोइ न चोर।
गटका जिहां दूध दही उद्‌गार।
सहु सिरि देस थली सिरदार।[16]

अनुवाद

यह दुनिया का सबसे अच्छा देश है। हालांकि पानी काफी गहराई पर मिलता है पर पानी बहुत मीठा और स्वास्थ्यवर्धक है। यह बहुत मशहूर है और हर आदमी जानता है कि थली क्षेत्रों का राजा है। इस क्षेत्र में कोई परेशानी नहीं है। यहां पर लड़ाईयां नहीं होती हैं। जबकि आर्थिक संपन्नता कम है परंतु लोग धार्मिक प्रवृति के है। थली क्षेत्रों का राजा हैं। कोई किसी की बुराई नहीं करता है। लोग मृदभाषी है और सत्य में यकीन रखते है। थली क्षेत्रों का राजा है। यहां के बच्चे भी धर्म में आस्था रखते हैं। लोग धार्मिक कृत्यों में एक दूसरे का सहयोग करते हैं। लोग मद्‌द करते हैं। यहां लोग काम पूरी दक्षता से करते हैं। दूसरे क्षेत्रों से लोग यहां आकर बस जाते हैं। लोग एक दूसरे की सहायता करते हैं। थली क्षेत्रों का राजा है। यहां पर महामारी नहीं फैलती है। नवयुवक तलवारों से खेलते हैं और बूढ़े लोग भी बहुत चुस्त हैं। थली क्षेत्रों का राजा है। थल का क्षेत्र अविजित रहा है क्योंकि यहां के लोग बहादुर हैं। यहां के लोग हीरे के समान हैं। थली क्षेत्रों का राजा है। लोग दानशील हैं। दानशीलता से प्रसिद्धि मिलती है। यहां गुरुओं का आदर होता है। थली क्षेत्रों का राजा है। यहां पर किसी भी चीज का डर नहीं है। सब तरफ ईमानदारी है इसलिए चोरी नहीं होती है। यह क्षेत्र दूध और दही से भरपूर है बस पानी नहीं मिलता है। थली क्षेत्रों का राजा है।

[16] अगरचंद नहाटा, (संपा.), 'थली वर्णन', *मरू भारती,* अंक–2, नं. 1, 1954, पृ. 81–83।

अब एक नजर साहित्य में चित्रित इस इलाके की कमियों पर भी डाल लेते है।

थली दोस वर्णन

उड़ई जिहां खेह न थंभि रहइ।
वज्जई जिहां पवन न किउही सहइ।।
जल खारउ सोइ पावेइ वली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
पट मासे नीर निवाण लहइं।
जिहां चउपद जीवति स्याइ रहइ।।
जिहां त्रास जलइ नर आस पफली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
जिहां सूरख लोग पिसाच जिसा।
काला अति भूछ कि भूत जिसा।।
भरी रीवड छाछि पिवंति रली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
जिहां डाढी मूछ न सूढ किसी।
मिली भूहन दीसइ मुख दिसी।।
जम्मारउ जाबइ साथि हली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
जिहां तरबर सांगर बोर तणा।
तिणि पाखलि दीसई साप घणा।।
मिलि तोड़इ क्राढ़ै लोक लली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
उफघाड़इ माथई कूक करइ।
चड़ि खेजड़ि सांगर भार भरइ।।
दीसंता भूत कि दैत दली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
नित नीर न लागइ नीर जिया।
भलउ भख्य न देखइ जेथ तिया।।
जिहां सुख न कोई भेद मिली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
जिहां कांटा क्रँपड़ वाडि करइं।

गाडां धरि हांडल तेथ भरइ।।
पसु जीवित जीवई कवण कली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
जल जेध न पावई पक्षी जिहां।
तरू छोह न दीसइ पंथि तिहां।।
चढ़ि खेजड़ क्रपड़ि सार चली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
धरा थल पंथी दुक्ख धरइ।
भरि पाए लागि भुरट्ट भरइ।।
जिहां बोलै बसती अेह जली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
जिहां पीवइ सांढां दूध सकोइ।
मरि मोगा ठामो ठामइ हाइ।।
लागइ उठि पंथी लोक बली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
जिहां पीवण सांप निसा विचरइ।
मणिधर पन्नग पफोंकार करइं।।
धरि धवल देह आनंद रली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
जिहां छक्कड़ दुक्कड़ द्रव्य घणाँ।
जिहां जउवाकेरी कांई नमणा।।
जिहां पूफल न पान न तेल पफली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
जिहां कांटा आगलि पंथ नहीं।
कोइ मानव पंथि न दीसई जहीं।।
दादउ तिहां पावइ नीर मिली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
जहां ढोल दमक्कइं नीर भरइं।
साठीका कोहर कृक करइं।।
केई नारी उफपरी नारि ढलो।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
जिहां उफन उखेली वस्त्रा करइं।
धण माडर छाली दूध धरइं।।

उफधड़ै गाडै वास गली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
जिहां काचर बोर घमंड करइ।
बलि रांध मतीरा पेट भरइ।।
मन मांहे आयो आप रली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
जिहां उफठि चढी दिन राति बहइ।
दस कोसां अेको कोस कहइ।।
जिहां आकां कयरा छांह छली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।
कहुं केता थली तणां बाखांण।
अे माणस नांही छइ पाखांण।।
कह्या गुण देखी किउं संभली।
पिफट देस कुदेस कुखंड थली।।[17]

अनुवाद

यह वह क्षेत्र है जहां पर धूल बगैर रोक–टोक के बहती है। बहुत तेज गति से बहती है। पानी खारा है। पीने योग्य नहीं है। इसलिए थल रहने के लिए एक खराब जगह है। तालाब में पानी सिर्फ महीने भर रहता है, और पशुधन पानी की कमी से बहुत परेशान होते हैं। थली रहने के लिए बहुत खराब जगह है। यहां के लोग पिशाच जैसे काले होते हैं। यहां छाछ बहुत पी जाती है। थली रहने के लिए खराब जगह है। लोग दाढ़ी और मूंछे रखते हैं, और उनके मुख निरंतर बहने वाली धूल से सने रहते हैं। ऐसा लगता है कि इन हालातों में काम करते यहां के किसान यमराज के सानिध्य में काम कर रहे हैं। थली रहने के लिए खराब जगह है। यहां वनस्पति में सागड़ी की झाड़ी की बहुलता है। सांपो का तो यह निवास स्थान है। थली रहने के लिए वाकई खराब जगह है। यहां के लोग बहुत जोर से बोलते हैं। थली रहने के लिए खराब जगह है। यहां खेजड़ी के पेड़ों की बहुलता है। लोग भूत–प्रेत जैसे नजर आते हैं। यहां पानी की कमी की वजह से लोग रोज

[17] नहाटा, (संपा.), 'थली वर्णन'।

नहीं नहा पाते हैं। खाने के लिए बहुत कुछ उपलब्ध नहीं है। इसीलिए लोग मौज मस्ती नहीं कर पाते हैं। थली रहने के लिए खराब जगह है। यहां वनस्पति कंटीली है। चिड़ियों तक को पानी नहीं मिलता। यहां के पेड़–पौधे छायादार भी नहीं होते। थली रहने के लिए खराब जगह है। इस इलाके में यात्रा करना भी आसान नहीं हैं क्योंकि भरुत घास कंटीली होती है। पैरों में चुभती है। गर्मी की वजह से गांवों में रहना भी मुश्किल होता है। थली रहने के लिए खराब जगह है। यहां पीने के लिए ऊंट का दूध मिलता है। लोग दूसरी जगह पलायन कर जाते हैं। थली रहने के लिए खराब जगह है। यहां पीले सांप रात में घूमा करते हैं। मणिधारी नाग रात में क्रीड़ा करते हैं। यहां पर पशुधन और बैलगाड़ियाँ बहुत है जो व्यापार में सहायता करती है। यहां न तो हरियाली है और न ही फूल हैं। थली रहने के लिए खराब जगह है। ऐसी कोई सड़क नहीं जो कांटो से भरी न हो। यहां दूर–दूर तक कोई यात्री नजर नहीं आता। थली रहने के लिए खराब जगह है। कुएं इतने गहरे हैं कि ऊंटों/बैलों की सहायता ही से पानी निकाला जा सकता है। कुएं से पानी खीचने की रस्सी इतनी लम्बी होती है कि जब बाल्टी ऊपर आ जाती है, तब ढोल बजाकर ऊंट अथवा बैल को इशारा किया जाता है। ऐसे कुंओं को साठी कुंआ कहते है। थली रहने के लिए खराब जगह है। यहां कपड़े ऊन से बुने जाते हैं। हालांकि दूध बहुतायत में उपलब्ध है परंतु है वो ऊंट और बकरी का, घास भी बहुतायत में होती है। थली रहने के लिए खराब जगह है। सब्जी बनाने के लिए यहां पर कचार, बेड़, मतीरा ही मिलता है। यह यहां का मुख्य भोजन है। थली रहने के लिए खराब जगह है। यहां पर दिन बहुत बड़े होते है और रातें बहुत छोटी। भूमि इतनी ज्यादा है कि लोग 10 कोस को एक कोस बताते हैं। दिन में थोड़ी बहुत छाया आक की झाड़ियों से मिलती है। थली रहने के लिए खराब जगह है। थली ऐसी ही है, मेरे कथन में अतिश्योक्ति नहीं है। ये सब थली की खूबियां है। थली रहने के लिए खराब जगह है।

तत्कालीन साहित्य का एक रोचक पहलू यह रहा है कि आमतौर पर किसी क्षेत्र का वर्णन करते वक्त उसकी अच्छाईयों और बुराईयों दोनों का चित्रण साथ–साथ होता था। एक तरफ क्षेत्र की विशेषताओं का उल्लेख होता है तो वहीं दूसरी तरफ उस क्षेत्र की कठिनाइयों

का वर्णन देखने को मिलता है। उस इलाके में आ कर बसने की वजह बताते वक्त वहां की विषमताओं का भी वर्णन किया जाता था, जैसे कि पानी उपलब्ध तो काफी गहराई पर है पर पानी स्वास्थ्यवर्धक है। आर्थिक संपन्नता सीमित है परंतु लोग धार्मिक है। लोग यहां पर आकर बस सकते हैं क्योंकि यहां महामारियां नहीं होती। अगर नौजवान तंदुरुस्त है तो बुजुर्ग भी चुस्त है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि क्षेत्र में मानव बस्ती को बढ़ावा तो राजनैतिक सत्ता देना चाह रही थी परंतु क्षेत्रीय विषमताओं को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, जैसे कि पानी का खारा होना, तालाबों में मात्र छः महीने तक पानी उपलब्ध रहना और पानी की कमी से पशुधन की हानि होना।[18]

साहित्यिक और लोक परंपराओं में व्याख्यायित जैसलमेर क्षेत्र के प्रति एक लगाव की प्रवृति भी देखने को मिलती है। आमतौर पर लगाव की यह प्रवृति पर्यावरण से वैयक्तिक तारतम्य को दर्शाती है। इस लगाव और तारतम्य को अस्मिता के आधार के रुप में प्रयुक्त होते देखते हैं। अस्मिता के विकास में साहित्य और लोककथाओं में प्रदर्शित इस लगाव और तारतम्य की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। मेरी यह बात तब और साफ हो जाती है जब इन साहित्यिक और लोक प्रचलित क्षेत्रीय वर्णनों की तुलना हम प्रशासनिक-अधिकारिक वर्णनों से करते हैं, जहां पर क्षेत्र का वर्णन उसमें निहित संसाधनों पर केंद्रित रहा है। इन अधिकारिक वर्णनों में क्षेत्र के संसाधनों के सामरिक महत्व पर ज्यादा जोर नजर आता है। मारवाड़ राज्य के दीवान ''मुहंता नैणसी'' द्वारा लिखित इतिहास में क्षेत्र का वर्णन उसका सामरिक महत्व, प्राकृतिक संसाधन और कृषि के विस्तार हेतु उपलब्ध संभावनाओं, आदि का बाहुल्य देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए उनके द्वारा ''मंगली का थाल'' (जैसलमेर के पश्चिम में) का निम्नलिखित विवरण दृष्टव्य है।

तिकै जैसळमेर था कोस 25 आथवणानूं मंगळका–थळ छै, तइै रहै छै। बा ठोड़ मंगळीका–थल कहावै छै। तठै द्रम छै। सु भोमियो होय सु डांडी आवै। असैंधौ डांडो टळै सु घोड़ो असवार गरह हुजाय।[19]

[18] मयंक कुमार, *मानसून इकोलोजीज : इरिगेशन, एग्रीकल्चर एण्ड सेटलमेंट पैटर्न डयुरिंग प्रीकोलोनियल राजस्थान,* मनोहर, नई दिल्ली, 2013।

[19] मुंहता नैणसी, *नैणसी री ख्यात,* खण्ड– II, (संपा.), बद्री प्रसाद सकारिया, राजस्थान प्राच्यविद्या शोध संस्थान, जोधपुर, 1962, पृ. 31.

अनुवाद

> इस इलाके में रेत के तूफान चलते है। अगर कोई राहगीर इस वीरान इलाके में रास्ता भटक जाए तो हमेशा के लिए भटक जाता है। अंततः उसे मृत्यु नसीब होती है।

इसी कड़ी में एक और उदाहरण दृष्टव्य है।

कोटड़ी, छहोटणरा भाखरांरो पांणी आवै तिणसूं भरीजै, पाखती च्यांरू तरफ भाखर छै, नै बीच उंफडाळ छै। कोस 3 बीच पांणीसूं भरीजै तद दस पनरै बांस पांणी चढै। पांणी निकलणरी ठोड़ को नहीं। सबळो भरीजै तद हासल इजाफ हुबैय। पांणी घटै तद मांहै बेरी दोय सौ, च्यारसौ आखारी सी हुबै छै।[20]

अनुवाद

> यह बस्ती चारों तरफ से पहाडियों से घिरी हुई है। इन पहाड़ियों के मध्य में एक ढलाव है जो कि चारों तरफ से इन्हीं पहाडियों से बंद है। बारिश में इन पहाड़ियों का पानी इस ढलाव में भर जाता है। पूरा भरे होने पर इसका फैलाव तीन कोस तक का हो जाता है और गहराई 10–15 बासों (हाथ) तक होती है। इसके सूखने पर इसकी तलहटी पर अच्छी खेती हो जाती है और इसमें 200–400 तक कुंए भी खोदे जा सकते हैं।

ऐसे ही विचार एक और प्रशासनिक अधिकारिक वर्णन में देखने को मिलता है। मेवाड़ के राजकीय इतिहासकार 'श्यामलदास' जैसलमेर के क्षेत्र का वर्णन करते हुए लिखते है कि ''जैसलमेर शहर के आसपास के इलाके की मिट्टी पथरीली है। बलुआ पत्थर की चट्टाने जिनके शीर्ष समतल है और इस इलाके में वनस्पति विहीन चट्टाने पाई जाती है। इस इलाके को छोड़कर जैसलमेर का इलाका छोटे–मोटे रेत के टीलों का समुद्र नजर आता है जिनकी ऊंचाई कहीं–कहीं पर 150 फीट

[20] नैणसी, *नैणसी री ख्यात*, खण्ड–II, पृ. 5.

तक है।''[21] यहां तक कि जैसलमेर क्षेत्र के प्रशासनिक अधिकारिक वर्णनों में भी ऐसी ही प्रवृति देखने को मिलती है। लख्मी चन्द 'तवारिख जैसलमेर' में इस इलाके का वर्णन करते वक्त जाल और खेजड़ी जैसे पेड़ों की बहुलता पर जोर देते है।[22]

ऐसा ही कुछ चित्रण अन्य स्रोतों में भी देखने को मिलता है। सन् 643 ई. में राजस्थान के इसी इलाके से गुजरते हुए हवेनशांग लिखते हैं कि ''भीनमाल (p-lo-mo-lo) काफी गर्म स्थान है। हवाएं तेज चलती हैं और धूल भरी होती है यहां की जमीन रेतीली है। फल और फूल बहुत कम पाए जाते है।''[23] 19वीं शताब्दी में ब्यालियु का भी अनुभव कुछ ऐसा ही था। वो लिखते है कि शेखावती की सीमा से पूगल तक जिसकी दूरी 180 मील है, यहां हल्की और भारी धूल से भरी खाड़ियों और पहाड़ियों की भरमार है। ये पहाड़िया ठीक वैसी हैं जैसे की समुद्र के किनारे हवाओं से बन जाती हैं। परंतु इनकी ऊंचाई काफी ज्यादा होती है। कभी–कभी 20 से 100 फीट तक। ऐसा कहा जाता है कि इनकी स्थिति और आकार, हवा के प्रभाव से बदलता रहता है। ये भी कहा जाता है कि गर्मियों में इस इलाके के बहुत से हिस्सों से गुजरना खतरनाक हो जाता है क्योंकि धूल भरी आंधियां चलती हैं। हालांकि जाड़ों में जब मैने इनको देखा तो लगा की ये स्थिर हैं और इन पर कहीं–कहीं घास भी उग आई है। इन पहाड़ियों पर फॉग, बबूल और जुजुवा आदि वनस्पति की उपस्थिति स्थायित्व का आभास कराती है। इन्हीं पहाड़ियों में कहीं–कहीं फूस की बनी हुई नुकीलीदार छत वाली वृत्ताकार झोपड़ियों का झुण्ड नजर आता है, जिसे गांवो के नाम से परिभाषित किया जाता है। मकानों के इस झुण्ड को चारों तरफ से इन्ही कटीली झाड़ियों की डन्ठलों की बाड़ से घेरा जाता है।[24]

---

[21] श्यामल दास, *वीर–विनोद*, खण्ड–II, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1886, पृ. 1751–53.

[22] लक्ष्मी चंद, *तवारिख जैसलमेर*, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 1899 (1999 पुनः प्रकाशित), पृ. 215–216.

[23] टी. वाटर्स, *ऑन युवान चवाँग ट्रेव्लस इन इंडिया*, खण्ड-II, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1973, पृ. 243–50.

[24] ब्यालियु ए. एच. ई., *पर्सनल नेरटिव ऑफ टुर थ्रू द वेस्टर्न स्टेट ऑफ रजवारा इन 1835 कंप्राइज़िंग बीकानेर, जोधपुर जैसलमेर*, बैपटिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता, 1837, पृ. 43–47.

आगे वह लिखते है ''कि अगर मैं अपने पाठक को यह बताऊं की इन ऊंची रेतीली पहाड़ियों की पृष्ठभूमि में फूस की बनी हुई झोपड़ियों और मिट्टी की दीवारों से घिरी इस आवासी बस्ती को कभी–कभी धूल भरी आंधियां तहत-नहस भी कर देती है तो पाठक को उन समुदायों पर आश्चर्य होगा जो कि ऐसी वीरान जगहों पर रहते हुए कठिन जीवन जीने को बाध्य हैं।''[25]

हालांकि हालात उतने बुरे नहीं थे जितने की ब्यालियु ने दर्शाये है। ऐसे चित्रण की वजह शायद यह रही होगी की उन्होंने यहां की तुलना अपनी मातृभूमि में मौजूद हरियाली से करने की कोशिश की है। यहां के लोगों ने इस वातावरण के हिसाब से अपने को ढाल लिया है। यह बात तब और साफ हो जाती है जब हम अलग–अलग इलाकों में रहने वाले लोगों के बीच होने वाली वार्ता का विश्लेषण करते हैं क्योंकि ऐतिहासिक साक्ष्य दर्शाते है कि हर इलाके का व्यक्ति न केवल अपने इलाके की बड़ाई करता है, वरन् दूसरे के इलाके की विषमताओं पर ज्यादा प्रकाश डालता है। ढोला मारु रा दुहा जैसे ऐतिहासिक स्रोत में मालवाणी–मालवा की रहने वाली और मारवाड़ की रहने वाली मारुणी के बीच का संवाद इस मामले में विशेषतः दृष्टव्य है।

ततखण माळवाणी कहइ, साँभळि कंत सुरंग।
सगळा देस सुहाँमणा, मारू–देस विरंग।।
बाळउँ, बाबा, देसड़उ, पाँणी जिहाँ कुवाँह।
आधीरात कुहक्कड़ा, ज्यउँ माणसाँ मुवाँव।।
बाळउँ, बाबा, देसड़उ, पाँणी–संदी ताति।
पाणी–केरइ कारणइ प्री छंडइ अधराति।।
बाळूँ, ढोला, देसड़उ जइँ पाँणी कूँवेण।
कूँ–कूँ–वरणा हथ्थड़ा नहीं सुँ घाढा जेंण।।
बाबा, म देइस मारूवाँ, सूध एवाळाँह।
कंधि कुहाड़उ, सिरि घड़उ, वासउ मंझि थळाँह।।
बाबा, म देइस मारूवाँ, वर कूँआरि रहेसि।
हाथि कचोळउ, सिरि घड़उ सीचंती य मरेसि।।

[25] ब्यालियु, *पर्सनल नेरटिव ऑफ टुर*, पृ. 43-47.

मारू, थाँकइ देसड़इ एक न भाजइ रिडड।
ऊचाळउ क असरसणउ, कई फाकउ, कइ तिडड।।
जिण भुइ पन्नग पीयण, कयर–कँटाळा रूँख।
आके–फोगे छाँहड़ी, हूँछाँ भाँजइ भूख।।
पहिरण–ओढण कंबळा, साठे पुरिसे नीर।
आपण लोक उभाँखरा, गाडर–छाळी खीर।।
मारू–देस उपन्निया तिहाँका दंत सुसेत।
कूझ–बची–गोरंगियाँ, खंजर जेहा नेत।।
मारू–देस उपन्निया, सर ज्यउँ पध्धरियाह।
कड़वा कदे न बोलही, मीठा बोलणियाह।।
देस निवाणूँ, सजळ जळ, मीठा–बोला लोइ।
मारू काँमिणि दिखणि धर हरि दीयइ तउ होइ।।
देस सुरंगउ, भुइँ निजळ, न दियाँ दोस थळाँह।
घरि–घरि चंद–वदन्नियाँ, नीर चढइ कमळाँह।।[26]

अनुवाद

मालवाणी कहती है कि मारवाड़ को छोड़कर बाकी सारे स्थान रहने योग्य हैं। वो कहती है कि मारवाड़ में पीने के पानी का इंतजाम इतना दुष्कर कार्य है कि वहां के निवासी इस काम के लिए आधी रात को चल देते हैं। मै तो ऐसी जगह नहीं रहना चाहूंगी जहां पति लोग आधी रात को ही पानी लाने निकल जाते हैं। पत्नियां यह काम इसलिए नहीं कर पाती हैं क्योंकि गहरे कुएं इस काम को बहुत कठिन बना देते हैं। मैं तो पिताजी से कहूंगी कि मेरी शादी मारवाड़ में न करना क्योंकि यह चरवाहों का इलाका है और लोगों को पानी दूर से भरकर लाने की वजह से घरों को रात में ही छोड़ना पड़ता है। यह लोग रेगिस्तान में रहते हैं। शादी करके मारवाड़ जहां गहरे कुओं से पानी खीचते–खीचते हथेलियां छिल जाती हैं, जाने से बेहतर है मैं कुआंरी रहूं। वहां पर या तो सूखा पड़ता है या बारिश देर से होती है या टिड्डी दल फसल बर्बाद कर देता है। मारवाड़ जहां पर सांपों की बहुलता है और वनस्पति के नाम पर कैर नामक घास मिलती है कातरा रुपक पेड़ों

[26] *ढ़ोला मारु रा दूहा*, महावीर सिंह गहलौत, (संपा.), राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 1985, पृ. 176–180.

और फॉग और आकरा से छाया मिलती है। यह तो वह जगह है जहां पर कुओं में पानी 60 हाथ से भी नीचे मिलता है। खेती की कम संभावनाओं की वजह से लोग घुमंतु होते हैं और भेड़ और बकरियों के दूध के सहारे जीवन निर्वाह करते हैं। (उसकी इस आलोचनाओं का जवाब देते हुए मारुणी कहती है) मालवा रहने के लिए अच्छी जगह नहीं है। मारवाड़ के लोग मृदभाषी और सीधी–सच्ची बात करने वाले होते हैं। इन लोगों का रंग खुला हुआ होता है और दांत चमकते होते है। मारवाड़ तालाबों से भरा क्षेत्र है और यहां का वातावरण स्वास्थ्यवर्धक है। आगे वो कहती है कि मारवाड़ और नरवर की लड़कियों की शादी किस्मत वालो से ही होती है।

आइए अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए राजस्थान के कुछ और हिस्सों की तत्कालीन साहित्य में उपलब्ध स्रोतों के आधार पर विवेचना करते हैं। यहां पर भी हम पाते है कि पर्यावरण का चित्रण अलग–अलग किस्म के स्रोतो में अलग–अलग प्रकार से हुआ है। मेवाड़ जिसका 3/5 हिस्सा समतल है और बाकी पहाड़ी है। अरावली पर्वत श्रृंखला[27] का कुछ हिस्सा मेवाड़ के दक्षिण पश्चिम क्षेत्र तक फैला हुआ है जो कि उदयपुर शहर से सिरोही की सीमा तक नजर आता है, जबकि उत्तर में यह कुंभळमेर होता हुआ अजमेर तक फैला है। कुंभळमेर के उत्तर में ये पहाड़ी इलाका महरवाड़ा कहलाता है जिसमें दुर्गम पहाडियां और घाटियां है।

तत्कालीन साक्ष्यों में आमतौर पर मेवाड़ की बड़ाई ही देखने को मिलती है और इसकी कठिनाईयां कम ही दर्शायी गयी है। जैन कवि हेम द्वारा रचित प्रशस्ति का निम्नलिखित विवरण दृष्टव्य है।

मेद पाट वर्णन प्रशस्ति
स्वस्ति श्री अवनि तिलक, मेद पाट विख्यात।
देश सबे सिर सेहरौ, रोग नहीं तिलमात ।1।
देबां में सुरपति बड़ो, तारां में जिम चन्द।
सरिता में गंगा बड़ी, गिर में मेरु गिरन्द ।2।

[27] फज़ल, *आइने–ऐ–अकबरी*, खण्ड–I, पृ. 505.

सबल देश में दीपतो, मोटो देश मेवाड़।
सरबर तरवर अति घणा, प्रोढ़ा अनल पहाड़ ।3।
पग–पग पाणी पंथ सिर, पग पग अम्बा रूंख।
पग पग दीसै सेलढी, चखीयां जावै भूख ।4।
देष देषना मानवी, आबै जुगतै जात।
चाबो चिहुँ ;दिसद्ध देषां मई, चतुर्भुज विख्यात ।5।
ढेबर सरवर जाणिये, कोषां बलि–चौबीस।
राज समन्द निरख्यो अबस, बारां कोस बदीस ।8।
उदियासर अति दीपतो, पीछोलो परसिंध।
ठांम ठांम मन्दिर घणा, महारांणएकोध ।9।
सबै गढ़ां सिर सेहरी, गढ़ चित्राोड फबंत।
गढ़ लंका संका धरी, जलधि जा जपंत ।10।
कुम्भलमेर कट्टारगढ़, उँची अनढ़ पाहाड़।
सजल ठोढ बिखमी धरा, बाहुली झंगी झाड़ ।11।
देष अनोपम दीपतो, सोभा कही न जाय ।
एक मुखै करि किम कहुं, सहस मुखे कहिबाय ।12।[28]

अनुवाद

मेवाड़ की ख्याति की चर्चा मैं शुभ शब्द के लेखन से शुरु करता हूं यह भूमियों का राजा है, जहां कोई कमी नहीं है जैसे इन्द्र देवताओं में, चांद सितारों में, गंगा नदियों में, मेरु पर्वतों में सर्वश्रेष्ठ है। वैसे ही मेवाड़ सभी क्षेत्रों में सर्वोत्तम है। यहां ढेरो पोखर और तालाब हैं यहां की पर्वत शृंखला खूबसूरत है और यह इलाका जंगलों से अच्छादित है। इस इलाके में पानी और पेड़ो की बहुलता है। यहां पर गन्नों की खूब खेती होती है, जिसकी वजह से यह सुगमता से उपलब्ध है। इनकी मिठास अतुलनीय है। जिससे प्यास बुझ जाती है। ये गन्ने इलाके में काफी मशहूर भी है। इस इलाके की औरतें बड़ी खुबसूरत है। ढेबर झील बहुत बड़ी है और उससे भी बड़ी राजसमंदर झील। पिछोला के साथ–साथ उदयसागर के क्या कहने महाराणाओं ने कई मंदिर बनवाएं है। चित्तौड़ का किला किलों का

[28] अगरचंद नहाटा, (संपा.), 'देश वर्णन', *मरू भारती*, अंक–2, 1954, पृ. 49.

> सिरमौर है। जैसे लंका समुद्र के उस पार ठीक वैसे ही चित्तौड़ भी साठ नदियों से घिरा हुआ है। कुंभळमेर और कतारगढ पहाड़ियों में बसे हुए है और कटीली झाड़ियों की वजह से सब तरफ से सुरक्षित है। मुझ अकेले से चित्तौड़ का वर्णन संभव नहीं है, इसकी खुबसूरती बयां करने के लिए कई लोगों का सहयोग चाहिए।

उपरोक्त चित्रण चुँकि प्रशस्ति है अतः सिर्फ अच्छाइयों का ही चित्रण अपेक्षित है। वहीं अगर हम नैणसी का चित्रण देखें तो मेवाड़ को एक राजनैतिक इकाई के रुप में चित्रित पाते हैं। नैणसी ने इस इलाके के पर्वतों का चित्रण करते हुए लिखा है कि :

रूपजी–वासरोड़ देस रै फाळसे छै। रूपजी सूं कोस 3 जीलवाळो दिखणनूं छै। जीलवाळाथी कोस 3 रीछेर उगवणनूं छै। रीछेर वाघोरारी खांभ छै। जीलवाड़ा नै रीछेर बीच अमजमाळरो बडो भाखर छै। लाँबो कोस 5 छै। उलै–कांनी कैलबो छै। वाघोर रै आगै घाटो गांव छै। तठा आगै घाटो गांव छै। तठा आगे भोरड़ारो पहाड़ लांबो कोस 5 उतर–दिखण छै। तठै भोरड़ नै मठावळा बीच समीचो गांव कूंभावतां सीसोदियारो उतन छै। उदैपुर से समीचो कोस 17, रूपजीथी कोस 12 छै। कूंभळमेर सूं कोस 10 समीचो छै। तठा आगे मछावळो पहाड़ कौस 7 लांबो छै। गांव 9 मठावळा दोळा। मछावळा उपर पांणी घणो। झाड़ घणा। वेरणी नावै। तठा आगै वरवाडो। तठासूं वर नदी नीसरी छै। बनास नीसरी छै। तठा आगै घांसेररो मगरो कोस 1 लांबी छै। तठा आगै पीडरझांपरो मगरो छै। घांसरे ने पीडरझांप बीच झांसनाळो कोनरो कोस 2 छै। तठा आगे खमणरी मगरो छै। तठै लोहसींग गांव छै। तठै एक छोटी–सी नदी नीसरी छै। तठा आगै ईसवाळरो मगरो छै। गिरवारा भाखरांसूं जाय लागो छै। ईसवाळ उदैपुरसूं कोस 5 उतर पछिमनूं छै। जीलवाड़ा थी कोस 5 देसूरी। देसूरी थी कोस 1 घांणेरो, कुंभळमेर री तळेठी तठै। आगै कोस 2 कुंभळमेर रो पहाड़ कोस 15 री गिरदवाय में छै। सादड़ी, राणपुर, सेवाडी तांई कुंभळमेर रो मगरो छै। सेवाड़ी कुंभळमेर सूं कोस 7 छै। तठा आगै राहगरो मगरो छै। निपट वडी ऐदी ठोड़ छै। पांणी पहाड़ मांहे निपट घणो छै।[29]

[29] नैणसी, *नैणसी री ख्यात*, खण्ड– II, पृ. 36–37.

अनुवाद

मेवाड़ के प्रवेश पर रुपजी–वासरोड़ स्थित है। जीलवाळो रुपजी से तीन कोस दूर है। जीलवाळा से तीन कोस पूरब रीछेर हैं, रीछेर वाघोरा के पर्वतीय तल में स्थित हैं। यह पर्वत पांच कोस लम्बा है। जीलवालो और रीछेर के बीच अमजमाल नामक पर्वत है। इसके आगे कैलबो हैं। वाघोर की घाटी में गांव बसे हुए हैं। वाघोर के उत्तर दक्षिण में भोरड़ा नाम का पांच कोस लम्बा पर्वत है। भोरड़ और मठावळा के बीच के सारे गांव कुम्भावत सिसोदियो के ''वतन'' के हिस्से हैं। यह इलाका उदयपुर से 17 कोस रुपजी से 12 कोस है। कुम्भलनेर से 17 कोस है और इसके बाद सात कोस लम्बा मछावळो पर्वत है। मठावळा के आसपास नौ गांव है। इस इलाके में पानी बहुतायत में उपलब्ध है। इलाका काफी हरा–भरा है इसकी खुबसूरती का चित्रण कर पाना संभव नहीं है। इसके आगे वरवाडो पर्वत हैं, जहां से बनास और वर नाम की नदियां निकलती हैं। इसके आगे एक कोस लम्बा घांसेर का पहाड़ है और उसके बाद पीडरझांप नामक पहाड़ है। इन दोनों के मध्य खास दिशा में झांसनाळो स्थित है। इसके आगे खमण पहाड़ स्थित है। जहां पर लोहसींग नामक गांव स्थित है। इस जगह से छोटी बरसाती नदी निकलती है और आगे चलने पर ईसवाळ की पहाड़ियां आती है। गिरवारा की शुरुआत जहां से होती है वहां पर खांवण की पहाड़ियां समाप्त होती है। ईसवाळ उदयपुर से पांच कोस उत्तर–पश्चिम में स्थित है। जीलवालो से पाचं कोस की दूरी पर देसूरी स्थित है। देसूरी से एक कोस की दुरी पर कुंभळमेर की पहाड़ियों के बीच घांणेरा स्थित है। कुंभळमेर का पहाड़ 15 कोस तक फैला हुआ है। कुंभळमेर की पहाड़ियां सदरी, रणपुर और सेवाणी तक फैली है। सेवाणी कुंभळमेर से सात कोस दूर है। इसके आगे राहगारो की पहाड़ी है। ये इलाका काफी दुष्कर है। पहाड़ो पर पानी की प्रचुरता है।

नैणसी वनस्पति के चित्रों के साथ–साथ इलाकों में स्थित पहाडियों पर मौजूद पानी के स्रोतों की भी चर्चा करते हैं। उन्होंने इलाके का चित्रण न केवल वहां स्थित पहाडियों के संदर्भ में किया है बल्कि उनके मध्य दूरी को भी बताया है। ऐसा विशिष्ट चित्रण तत्कालीन समाज की पर्यावरणीय सरोकारों को दर्शाता है।

मेवाड़ राज्य के स्थायित्व और राजसत्ता की निरंतरता की व्याख्या करते हुए इस इलाके के सामरिक महत्व को नैणसी प्राथमिकता देते हैं। ऐसी ही कोशिश में नदियों और जलस्रोतों को केन्द्र में रखते हुए इलाके के सामरिक महत्व का चित्रण करते हैं। तमाम नदियों के मध्य बनास सबसे महत्वपूर्ण नदी है और नैणसी इसका चित्रण निम्नलिखित रुप में करते हैं।

जरगारा भाखरथी नीसरी। तिको जरगो उदैपरुसूं कोस 29 छै। उठाथी रोहिड़े गांव आवै। जको राजा हरचंदरो बसायो छै। उठाथी कोस 2 गांव बरबाड़ो मेवाड़री तठै आवै। आगै कठाड़ गांव मदाररै गांव माछ में नै घांसाररै मगरे बीच नीसरै नै काम–सकराही गांव वसै छै तठै आवै। उठाथी खभणोर आवै, उदैपुर थी कोस 12। उठाथी कोठारिये आवै। तठा आगै गांव मोही तंवराँवले। तठा आगै जावद–नंदराय बीच नीसर नै गाँव छै, उठै चोलेर रो पारसनाथ छै। उठा आगै पाड़लोळी जाजपुर रो गाँव छै, तठै आय नै जाजपुर आवै। तठाथी सावड़ रै गाँव देवळी आवै। आगै डावर तोडा रै गाँव आवै, तठै खारी वधनोर वाळी भेळी हुई। आगै तोडा थी कोस गोकर्ण राह छै। बडो तीर्थ छै। मधुकीटभ तपस्या की छै। रावण तपस्या की छै तठै आवै। तठा आगै तोडारा गाँव विसळपुर रावर आवै। तठै सोसादीये रायसिंघ मोहल कराया छै। तठा आगै बणहड़ै हुय टूंक आई। पछे मलीरणै रै गाँव झूंपड़ाखैड़े सोहड़ भगवंतगढ सैसभारिजै मलीरणै रे वीछूंदे नै हुय जीरोत रो गाँव हाडोती रो हुय नै आगै खंडरगढ चावळ भेळी हुई।[30]

अनुवाद

> जरगारा की पहाड़ियों से बनास नदी का उद्भव होता है जोकि उदयपुर से 29 कोस दूर। राजा हरचंद द्वारा बसाये हुए गांव रोहिड़े से आगे बढ़ती है, और गांव बरबाड़ो पहुंचती है। यह कठाड और मदार गांवो के साथ बहती है। इसके बाद ये घांसार की पहाड़ियों को चीरते हुए काम–सकराही गांव पहुंचती है, फिर उदयपुर से 12 कोस दूर खभणोर गांव पहुंचती है। तदोपरांत तंवराँवले के गांव

[30] नैणसी, *नैणसी री ख्यात*, खण्ड–I, पृ. 42.

> कोठारिये और मोही के पास से गुजरती है। उसके बाद जावद–नंदराय को छोड़ती हुई पारस नाथ के गांव चोलेर पहुंचती है। पाड़लोळी से गुजरती हुई जाजपुर पहुंचती है। ये गांव देवली भी जाती है। उसके बाद ये गांव डावर तोडा पहुंचती है जहां खारी वधनोर नदी इसमें मिलती है। इसके पास में ही गोकर्ण महादेव का मशहूर धार्मिक स्थान है। ऐसा कहा जाता है कि कुख्यात असुर मधुकीटभ और रावण ने यहां उपासना की थी। इसके बाद यह गांव विलासपुर पहुंचती है जहां पर रायसिंह मोहल सिसोदिया ने महल बनवाया था। इसके बाद बणहड़ से गुजरती हुई टोंक पहुंचती हैं। इसी मध्य में यह गांव झूंपड़ाखैड़े और वीछूंदे होती हुई हाड़ौती में चम्बल नदी में विलीन हो जाती है।

बनास उदयपुर से 29 कोस दूर जरगारा की पहाड़ी से निकलकर हाड़ौती में चम्बल में विलीन हो जाती है। नैणसी ने इसके पूरे प्रवाह को सामरिक रुप से महत्वपूर्ण स्थानों और गांवों के माध्यम से चित्रित किया है। इलाके की प्रकृत्ति का विवरण करते हुए इसके आस–पास के पहाड़ों को भी रेखांकित किया है। नैणसी ने इसमें मिलने वाली तमाम नदियों को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

अतः प्रथम दृष्टव्य हम यह कह सकते हैं कि लोक प्रचलित साहित्यिक विवरणों और प्रशासनिक–अधिकारिक विवरणों के सरोकारों में काफी अंतर है। अगर लोक प्रचलित साहित्यिक विवरण प्रकृति के प्रति लगाव को दर्शाते हैं तो वहीं पर प्रशासनिक–अधिकारिक विवरण उसकी सामरिक स्थिति और महत्व पर जोर देते हैं। वनस्पति, जन्तु–जगत और प्राकृतिक उपादानों के प्रति एक खास लगाव लोक प्रचलित साहित्य की एक विशेषता है। अधिकारिक विवरणों में नदियों, पहाड़ों, जलस्रोतों और सामरिक महत्व को प्राथमिकता मिलती है।

पहचान बनने की प्रक्रिया में प्रकृति या प्राकृतिक उपादानों की महत्वपूर्ण भूमिका को उजागर करने में मौसम के प्रति समाज के नजरिए को समझना काफी उपयोगी होता है। इसलिए अब हम मौसमों से जुड़ी लोक प्रचलित–साहित्यिक अवधारणाओं की चर्चा करेंगे। रोचक बात यह है कि जैसे क्षेत्र को लेकर उसकी अच्छाइयों–बुराइयों की बात हो रही थी कुछ वैसा ही मौसम के प्रति भी देखने को मिलता है। कभी–कभी

तो लोक साहित्य मौसम के प्रति व्यंगात्मक रुख अपना लेता है। आमतौर पर मौसम की अच्छाइयां या बुराइयां वृहत्तर मानव समाज के संदर्भ में आकीं जाती हैं। मौसमों के अपने स्वयं के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए लोक साहित्य उसकी मानव समाज में उपादेयता का भी चित्रण करता है। कई बार तो सतही तौर पर नजर आने वाली मौसम की कठिनाइयों में छुपे प्राकृतिक बदलाव को पहचान कर आगामी मानवोपयोगी संभावनाओं की ओर संकेत भी करते हैं।[31] हम अपनी बात बारिश के मौसम के प्रति लोक प्रचलित अवधारणाओं की विवेचना से शुरु कर रहे हैं। जैसा की पहले लिखा जा चुका है कि बरसाती नदियों की बहुलता, निम्न जल स्तर आदि के कारण इस शुष्क इलाके में बारिश का लोग बहुत बेसबी से इंतजार करते हैं। ज्यादातर मौकों पर बारिश का पानी ही पीने योग्य पानी का एक मात्र स्रोत होता है। इसलिए बारिश का अपने निर्धारित समय पर आगमन का मानव समाज बेसबी से इंतजार करता है। निम्नलिखित कहावत बारिश के प्रति मानव समाज की विहलता को प्रदर्शित करती है।

सौ सांढीया सौ करहलां, पूत निपूती होय। मेवड़ला बूठा भला, होणी होय सो होय।।[32]

अनुवाद

> लोग बारिश के लिए अपनी संपन्नता को कुर्बान करने के लिए तैयार है। सैकड़ों ऊंटनियों की कुर्बानी दी जा सकती है। बारिश सुनिश्चित करने के लिए पुत्रों तक का बलिदान भी दिया जा सकता है।

ऐसी ही विहलता एक और कहावत में देखने को मिलती है

---

[31] अगरचंद नहाटा, (संपा.), 'राजस्थानी गद्य में वर्षा वर्णन', *मरु भारती,* अंक–1–2, 1952–55, पृ. 62–67; कन्हैया लाल सहल, 'राजथान की वर्षा संबंधी कहावतें', *मरु भारती* अंक–4, नं. 1, पृ. 8–18; अगरचंद नहाटा, (संपा.), 'राजस्थानी साहित्य में शीत वर्णन', *मरु भारती,* अंक–1–2, 1952–55, पृ. 4–9; जय शंकर देव शंकर शर्मा, 'प्रकृति से वर्षा–ज्ञान की बानगी', *राजस्थान भारती* अंक–6, नं. 3–4, 1956, पृ. 59; अगरचंद नहाटा, (संपा.), 'थली वर्णन', *मरु भारती,* अंक–2, नं. 1, 1954, पृ. 81–83।

[32] सहल, 'राजथान की वर्षा संबंधी कहावतें', पृ. 18.

मेह ने पावणां किताक दिनां रा। राजा मान्या सो मानवी, मेयां मानी धरती।[33]

अनुवाद

> इस कहावत के अनुसार प्रजा तब सुखी रहेगी जब राजा खुश होगा और धरती तब खुश होगी जब बारिश होगी।

तत्कालीन साहित्य में केवल बारिश का ही चित्रण नहीं मिलता है बल्कि बाकी सारे मौसमों के प्रति सामाजिक संवेदना भी दिखाई पड़ती है। किन अर्थो में समाज के विभिन्न तबको पर ठंडक का असर अलग–अलग पडता है इसकी एक खूबसूरत बानगी निम्नलिखित है।

जिण भांत लैणायत दीठां देखायत घटै, तिमि तिणी भांति दिन दिन निसी दीठैं सूरज रौ तेज घटक लागौ नैं सूरज रो तेज घटियौ, राति मोटी होण लागी।[34]

अनुवाद

> ठंडक में जब दिन छोटे हो जाते है और रातें लम्बी हो जाती है तो ऐसा लगता है कि सूरज ने किसी से उधार लिया था और चुका ना पाने की वजह से अपने को छुपाना चाहता है। दिन में गायब रहना चाहता है और रात को तो वैसे ही नजर नहीं आता है।

संपन्न वर्ग के लोग तो कंबल आदि ओढ़कर अपनी ठंडक मिटा लेते हैं। ज्यादा ठंडक पड़ने पर सिगड़ी भी जला लेते है और आंच तापते हुए ठंडक का मजा लेते हैं इसके विपरीत आम आदमी के पास इतना जलावन नहीं होता कि सिगड़ी जला पाये अथवा ठंड से बचने के लिए पर्याप्त मात्रा में कंबल आदि का इस्तेमाल कर पाए। ऐसे में जब आम आदमी ठिठुरता है तो ठंडक का मौसम उसे बिल्कुल नहीं

[33] सहल, 'राजथान की वर्षा संबंधी कहावतें', पृ. 17–18.

[34] नहाटा, 'राजस्थानी साहित्य में शीत वर्णन', पृ. 4.

भाता। गौरतलब है कि ठंडे मौसम में जब किसान को भोर में ही फसल के लिए सिंचाई का इंतजाम करना पड़ता है अथवा चौकीदार को ठंडी रातों में घूम–घूमकर पहरा देना होता है और उस दौरान संपन्न वर्ग अपने घरों में रजाई ओढ़कर सोता है तो मौसम के प्रति संवेदनाएं भी बदल जाती हैं।

अति शुष्क क्षेत्रों में भी जहां का मौसम और प्राकृतिक हालात काफी दुष्कर होते है वहां भी मानव समाज ने उसको अपना भाग्य मानकर स्वीकार कर लिया हैं। मानव समाज इन दुष्कर परिस्थितियों से भी सामंजस्य बनाना जानता है और सामंजस्य बनाते वक्त कहीं भी प्रकृति को कोसने की प्रकृति देखने को नहीं मिलती है। यह बात तब और साफ हो जाती है जब हम ढोला–मारु रा दुहा में मारुणी और मालवाणी के संवाद को याद करते हैं।[35] अपने क्षेत्र की परेशानियों को तो स्वीकार करते है परंतु उससे विहल नहीं हो जाते है। अपने क्षेत्र की अच्छाइयों को केन्द्र में रखकर प्रकृति से प्राप्त संभावनाओं को चरित्तार्थ करते हुए जीवन को सुगम बनाने की निरंतर चेष्टा करते हैं। मारवाड़ में पानी का स्तर तो काफी नीचे है इसको स्वीकार करते हुए साहित्य ने पानी के मीठे होने को अस्मिता का आधार बनाया। ठीक वैसे ही आर्थिक/प्राकृतिक संसाधनों की विपन्नता को स्वीकारते हुए समाज की ''धर्म'' के प्रति निष्ठा को अपनी पहचान का आधार बनाया। प्रकृति के विविध उपादानों में समाजोपयुक्त आयामों पर जोर देते हुए अपनी क्षेत्रीय पहचान को एक स्वरुप दिया।

पर्यावरण और क्षेत्र

प्राकृतिक उपादानों पर आधारित अस्मिता के निर्माण की प्रक्रिया में भाषाई चेतना ने भी काफी गहरी भूमिका निभाई है। प्रकृति विशेष क्षेत्र और उसी से बंधी हुई भाषाई चेतना ने इस काल में क्षेत्रीय अस्मिता के विकास को नया आयाम दिया। यह बात भी गौरतलब है कि कभी–कभी राजनैतिक परिसीमन भी इन अस्मिताओं से जुड़कर इन पहचानों के सुदृणीकरण में गहरी भूमिका निभाता रहा है। यहां यह

[35] गहलौत, *ढ़ोला मारु रा दूहा*, पृ. 176-180.

बात कह देना भी उचित होगा कि अक्सर राजनैतिक परिसीमन में बदलाव होता रहा है परंतु इसका ज्यादा असर प्रकृति–भाषाई समानता पर आधारित क्षेत्रीय पहचान का ही रहा है। निम्नलिखित उद्धरण इस बात को काफी खूबसूरती से दर्शाता है : राजपुताना के लोग कभी–कभी अपने प्रदेश को वहां की वनस्पति विशेष के आधार पर विभाजित करते है जो कि काफी हद तक क्षेत्रीय राजनैतिक परिसीमन से मेल खाता है। ''लाई'' और ''सज्जी'' बाहुल्य वनस्पति क्षेत्र रेगिस्तान का हिस्सा हैं, ''भुरात'' घास दक्षिण के क्षेत्र में और उससे भी नीचे ''कराड़'' घास का क्षेत्र। आंवला की झाड़ियों का क्षेत्र मेवाड़ की उपजाऊ भूमि का ध्योतक है।[36]

17वीं शताब्दी में मारवाड़ के अधिकारिक इतिहास लेखक नैणसी लिखते है कि एक बार हरदास और शेखा के मध्य भूमि का बंटवारा, इलाकों में होने वाली घास के आधार पर किया गया। शेखा ने कराड़ बाहुल्य क्षेत्र पर कब्जा पाया और वहीं हरदास ने भुरात बाहुल्य क्षेत्र पर। उपरोक्त उदाहरण वनस्पति के आधार पर राजनैतिक बंटवारे को दर्शाते हैं।[37] अर्थात तत्कालीन समाज प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से अपनी पहचान बनाता नजर आता है।

ऐसा ही एक उदाहरण राव जोधा और राणा कुंभा के मध्य हुए सीमा विवाद के निपटारे में देखने को मिलता है। दोनों के मध्य हुई संधि में यह पाया गया कि जिस इलाके में बबूल के पेडों की बहुतायत है वो इलाका मारवाड़ के हिस्से में माना गया अर्थात शुष्क इलाके की वनस्पति ने उस इलाके की पहचान बनाई। वहीं दूसरी तरफ आंवला बाहुल्य क्षेत्र मेवाड़ के हिस्से में गया जो कि अर्ध शुष्क इलाके की वनस्पति है और मारवाड़ की शुष्कता के विपरीत मेवाड़ के अर्ध शुष्क मौसम से उसकी पहचान बनाता नजर आता है।[38] यहां यह बात गौरतलब है कि हालांकि इस युद्ध में जीत तो मारवाड़ की हुई थी परंतु फिर

[36] पी. डब्ल्यू पॉवलेट, *गजेटिअर ऑफ दि बीकानेर स्टेट*, ऑफिस ऑफ दि सुपरिंटेडेंट ऑफ गर्वनमेंट प्रिंटिंग, कलकत्ता, 1874, पृ. 85.

[37] नैणसी, *नैणसी री ख्यात*, खण्ड–I, पृ. 89.

[38] नैणसी, *मारवाड़ परगना री विगत*, खण्ड–I, पृ. 36.

भी मारवाड़ ने शुष्क इलाके पर ही अपना अधिकार जमाया। शायद क्षेत्रीय अस्मिता के सरोकारों ने इस प्रकार की संधि की पृष्ठभूमि बनाई। मारवाड़ बबूल से अपनी पहचान बनाने में हिचकता नजर नहीं आता और काफी हद तक आंवला बाहुल्य क्षेत्र को मेवाड़ की क्षेत्रीय अस्मिता का हिस्सा मानते हुए उसे प्रदान कर देता है।

तत्कालीन समाज में मशहूर निम्नलिखित किस्सा मेरी इस अवधारणा को, कि प्राकृतिक लक्षणों पर आधारित क्षेत्रीय अस्मिता राजनैतिक परिसीमन को काफी हद तक प्रभावित करता है, और साफ तौर पर स्थापित करता है। ऐसा कहा जाता है कि बीकानेर के राजा राज सिंह को भूरतियो की उपाधि से सम्मानित किया गया था क्योंकि बीकानेर के क्षेत्र में भारुत नामक झाडियों की बहुलता रही है।[39]

प्राकृतिक क्षेत्रों की विविधता और उतनी ही मात्रा में उनसे सामाजिक सरोकारों की विविधता क्षेत्र विशेष की सामाजिक समझ को कई रुपों में निर्धारित करती है। इस प्रक्रिया में अपने क्षेत्र के प्राकृतिक लक्षणों से लगाव की भूमिका के साथ–साथ दूसरे/पड़ोसी प्राकृतिक क्षेत्रों से भिन्नता भी एक अहम भूमिका निभाती है। अपने क्षेत्र विशेष का अनुठापन और दूसरे क्षेत्रों से उसकी भिन्नता सामाजिक–पर्यावरणीय अस्मिता के निर्माण में गहरी भूमिका निभाते हैं। आमतौर पर इस प्रक्रिया को साहित्य ही उजागर करता है। अतः भाषाई एकरुपता भी काफी गहरी भूमिका निभाती है। 15वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य राजस्थान की अपनी पहचान और उसमें व्याप्त कई छोटी–छोटी क्षेत्रीय पहचानों के निर्माण में क्षेत्रीय भाषाओं के उद्भव और विकास ने भी काफी गहरी भूमिका निभाई है। प्रस्तुत शोध पत्र भाषाई विभिन्नता की भूमिका पर प्राथमिक टिप्पणी तो करता है परंतु इस बात से अवगत है कि इनकी भूमिका के मूल्यांकन के लिए और शोध होना जरूरी है। मानव समाज द्वारा प्राकृतिक उपादानों की उपयोगिता और उसके प्रति लगाव ने क्षेत्रीय अस्मिता के स्वरुप के प्राथमिक रुप निर्धारण में तो काफी गहरी भूमिका निभाई परंतु इसका संपूर्ण पल्लवन भाषाई एकरुपता और राजनैतिक एकीकरण के संयुक्त प्रयासों से ही संभव हो सका।

[39] नैणसी, *मारवाड़ परगना री विगत*, खण्ड–III, पृ. 123.

संदर्भ

एंडरसन, बेनेडिक्ट, *इमैजिन्ड कम्यूनिटिज*, वर्सो, लंदन, न्यूयॉर्क (संशोधित संस्करण), 2006।

आरनोल्ड, फिलीप एंव ऐन गोल्ड (संपा.) *सैकरेड लैंडस्केप ऐण्ड कलचरल पॉलिटिक्स : पलांटिंग ऐ ट्री*, ऐशगेट, अल्डरशोट, 2001।

ब्यालियु, ए. एच. ई., *पर्सनल नेरटिव ऑफ टुर थ्रू द वेस्टर्न स्टेट ऑफ रजवारा इन 1835 कंप्राइज़िंग बीकानेर, जोधपुर जैसलमेर*, बैपटिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता, 1837।

सेडरलोफ, गुनैल एवं के. शिवरामाकृष्णन (संपा.) *इकॉलोजिकल नैशनलिज़्मः नेचर लाइवलिहूड्स ऐण्ड आइडेंटेटीस इन साउथ एशिया*, परमानेंट ब्लैक एवं यूनिवर्सिटी ऑफ वाशिंगटन प्रेस, नई दिल्ली एवं सियाटेल, 2006।

क्लैटोन, सूसान एवं ओपोटोव सूसान, 'इंटरोडक्सन', (संपा.), क्लैटोन सूसान एवं ओपोटोव सूसान, *आइडेंटिटी ऐण्ड दि नेचुरल इंवॉयरनमेंट : दि साइकोलोजिकल सिगनीफिकेन्स ऑफ नेचर*, दि एम. आई. टी. प्रेस, कैंब्रिज, मैसेचुसेट और लंदन, 2003, पृ. 1–24।

दास, श्यामल, *वीर–विनोद*, खण्ड–II, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1886।

देवल, चन्द्र प्रकाश, 'मेडिवल राजस्थान लिटरेचर', (संपा.), के. अइप्पा पाणिकर (मुख्य संपादक), *मेडिवल इंडियन लिटरेचर : एन एंथोलोजी*, खण्ड–I, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2000, पृ. 453–71।

फज़ल, अबुल, *आइने–ऐ–अकबरी*, खण्ड–I, अनुवादक एच. ब्लोकमेन, ओरिएंटल बुक्स रिप्रिंट कॉरपॉरेशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 1977।

फेलधौस, ऐन, *रीजन, पीलग्रेमेज ऐण्ड ज्योग्रोफिकल इमेजिनेशन इन इंडिया*, पॉलग्रेव मेकमिलन, न्यूयॉर्क, 2003।

ढ़ोला मारु रा दूहा, महावीर सिंह गहलौत, (संपा.), राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 1985।

गुहा, सुमित, *दि पॉलिटिक्स ऑफ आइडेंटिटी ऐण्ड इन्यूमेरेसन इन इंडिया* सी. 1600–1900' *कॅमपेरिटिव स्टडीज़ इन सोसाइटी ऐण्ड हिस्ट्री*, अंक–45, नं. 1, जनवरी, 2013, पृ. 148–167।

जनोवोस्की, मोनिका एवं टिम इनगोल्ड (संपा.) *इमेजीनिंग लैंडस्केपस : पास्ट, प्रजेन्ट ऐण्ड फ्यूचर*, ऐशगेट, अल्डरशोट, 2012।

कुल्के, हर्मन, *ए हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1986।

कुमार मयंक, *मानसून इकोलोजीज : इरिगेशन, एग्रीकल्चर एण्ड सेटलमेंट पैटर्न डयुरिंग प्रीकोलोनियल राजस्थान,* मनोहर, नई दिल्ली, 2013।

लक्ष्मीचंद, *तवारिख जैसलमेर,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 1899 (1999 पुनः प्रकाशित)

लालस, सीता राम, *राजस्थानी हिंदी शब्द कोष*, खण्ड–I, राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर, 1986।

माहेश्वरी, हीरालाल, *हिस्ट्री ऑफ राजस्थानी लिटरेचर*, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1980।

नहाटा, अगरचंद (संपा.), 'देश वर्णन', *मरु भारती*, अंक–2, 1954, पृ. 49–51।

——, (संपा.), 'राजस्थानी गद्य में वर्षा वर्णन', *मरु भारती*, अंक–1–2, 1952–55, पृ. 62–67।

——, (संपा.), 'राजस्थानी साहित्य में शीत वर्णन', *मरु भारती,* अंक–1–2, 1952–55, पृ. 4–9।

——, (संपा.), 'थली वर्णन', *मरु भारती,* अंक–2, नं. 1, 1954, पृ. 81–83।

नैणसी, मुंहता, *मारवाड रा परगना री विगत,* तीन खण्ड (संपा.), नारायण सिंह भाटी, राजस्थान प्राच्यविद्या शोध संस्थान, जोधपुर, 1968–1974।

——, *मुंहता नैणसी री ख्यात,* तीन खण्ड, (संपा.), बद्री प्रसाद सकारिया, राजस्थान प्राच्यविद्या शोध संस्थान, जोधपुर, 1962–1984।

पॉवलेट, पी. डब्ल्यू, *गजेटिअर ऑफ दि बीकानेर स्टेट*, ऑफिस ऑफ दि सुपरिटेडेंट ऑफ गर्वनमेंट प्रिटिंग, कलकत्ता, 1874।

रतनावत, श्याम सिंह और कृष्णगोपाल शर्मा, (संपा.), *चारण साहित्य परंपरा : प्रो. वी. स्वरूप भटनागर अभिनंदन ग्रंथ*, राजस्थान अध्ययन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 2001।

रे, रजत कांत, 'कर्नल जेम्स टोड, मुंहता नैणसी ऐण्ड दि राजपूत', *इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू* अंक–25, नं. 2, जून 1999, पृ. 100–11।

सहल, कन्हैया लाल, 'राजथान की वर्षा संबंधी कहावतें', *मरु भारती* अंक–4, नं.1, 8–18।

शर्मा, डी., *राजस्थान थ्रू दि ऐजेज*, राजस्थान स्टेट आरकाइवस, बीकानेर, 1966।

शर्मा, जय शंकर देव शंकर, 'प्रकृति से वर्षा–ज्ञान की बानगी', *राजस्थान भारती* अंक–6, नं. 3–4, 1956, पृ. 59–61।

शर्मा, आर. एस., *ऑरिजिन्स ऑफ स्टेट इन इंडिया*, यूनिवर्सिटी ऑफ बम्बई, बम्बई, 1989।

शिवरामाकृष्णन, के., 'थिन नेशनलिज़्म : नेचर ऐण्ड पब्लिक इंटेलिक्यूलिज़्म इन इंडिया', *कॉन्ट्रीब्यूशनस टू इंडियन सोशियोलजि*, अंक–45, नं–1, 2011, पृ. 85–111।

टवेरनियर, जीन बपतेस्ते, *ट्रेवल्स इन इंडिया*, अनुवादक वी. बॉल, ओरिएण्टल बुक्स रिप्रिंट कॉरपोरेशन, नई दिल्ली, 1977।

थापर, रोमिला, *फ्रॉम लीनियेज टू स्टेट : सोशल फॉरमेशन इन दि मिड–फर्स्ट मिलेनियम बी. सी. इन दि गंगा वैली*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, 1984।

व्यास, आर. पी., 'बारडिक लिटरेचर–इट्स ऑरिजिनस क्लासिफिकेशनस ऐस ए सोर्स ऑफ हिस्ट्री', श्याम सिंह रतनावत और कृष्णगोपाल शर्मा, (संपा.), *चारण साहित्य परंपरा : प्रो. वी. स्वरुप भटनागर अभिनंदन ग्रंथ*, राजस्थान अध्ययन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 2001, पृ. 1–6।

वाटर्स, टी., *ऑन युवान चवाँग ट्रेव्लस इन इंडिया*, अंक–2, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1973।

आभार

मैं, इस प्रस्तुति के लिए नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ।